



निष्कर्ष

निष्कर्ष

उत्तर आधुनिकता की साहित्यिक अवधारणाओं ने साहित्य में कई सदी से मान्य 'यूरोपीय मानववाद' प्रेरित अवधारणाओं को चुनौती दी है। (हिन्दी में भी यही अवधारणाएँ सक्रिय हैं।) उत्तर आधुनिक सिद्धान्तिकी और समीक्षा का सार यही है। वह मानववाद के आधार आधुनिकतावाद द्वारा स्थापित कला की अराजनीतिक स्वायत्तता तथा समीक्षा की 'मूल्य मुक्त' कलावादी अवधारणाओं को चुनौती देती है। उत्तर-आधुनिक सिद्धान्त बताते हैं कि प्रतिनिधिकता से बचा नहीं जा सकता, लेकिन उनसे यह जाना जा सकता है कि प्रतिनिधिकता के आधुनिकतावादी सिद्धान्त किस तरह एक खास 'ज्ञानदशा' को वैधता देते हैं, और किसी तरह किसी एक सत्ता (पावर) की वैधता सिद्ध करते हैं, सेवा करते हैं। उत्तर आधुनिक कला विचारधारात्मक है। (जैसे कि 'मासकल्चर' है)। वह विचारात्मक है, क्योंकि उसका स्वभाव प्रतिनिधित्वमूलक है। प्रतिनिधिकता में निहित विचारधारात्मकता महत्वपूर्ण नहीं। महत्वपूर्ण है उसका विचारधारात्मकता प्रकार्य जो अर्थ के निर्माण को निश्चित करने में मदद करता है महिलावादी, समलैंगिक, हाशियाकृत या काले या दलित विमर्श स्वयं प्रतिनिधिक हैं, वे विकेन्द्रित यथार्थों का प्रतिनिधित्व करते हैं। लेकिन यहाँ प्रतिनिधिकता के तत्व अर्थ के निर्माण को निश्चित करने के औजार हैं, स्वयं स्वीकृति और किसी 'सत्ता' को वैधता प्रदान करने वाले तत्व नहीं। विकेन्द्रित साहित्य की सत्ता है। प्रतिनिधिकता होनी है तो उनकी होनी है। वर्चस्वशाली संस्कृति के नीचे दबे हाशिये ढूँढ़ना ही उत्तर आधुनिकता है।

प्रश्नों में ही उत्तर आधुनिक विमर्श पनपते हैं, विकेन्द्रण को सम्भव करते हुए नए-नए प्रश्न उठाते हैं जिनके आगे बने-बनाये उत्तर नजर नहीं आते हैं।

उत्तर आधुनिक का एक खेल पेंरोडी है। यह दोहरा अस्त्र है। आधुनिकतावादी जकड़बन्दी को भीतर-बाहर दोनों तरफ से तोड़ता हुआ। किसी भी इतिहास की पुनर्रचना पेंरोडी है। इस तरह ज्यादातर साहित्य पेंरोडी होता है। पेंरोडी के जरिए उपलब्ध कलारूपों को उपयोग में लाया जाता है। और उन्हें तोड़ा भी जाता है। उन्हें स्थिर भी किया जाता है, अस्थिर

भी। इस क्रम में परोडी अपने भीतर के अन्तर्विरोधों को भी उजागर करती है। वह सौन्दर्य प्रतीति की मौलिकता के विचार को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट होती रहती है, वह मौलिक कृति की पाठीयता को अन्तर्पाठीयता (पेश्टीच या पैबन्द जिनसे कोई भी रचना बनती है) में बदलती है। इस तरह परोडी कला इस जगत की एक नए किस्म की नक्शानवीसी करती है। इस मायने में उत्तर आधुनिकता आधुनिकता पर निर्भर भी है और उसका भितरघात कर स्वतंत्र भी रहती है।

किसी कृति में अतीत के उल्लेख, या संदर्भ, प्रकटतः गम्भीरता से लिए जाने वाले संदर्भ होते हैं। ('अपने-अपने राम' में अतीत या पुराण का जितना उल्लेख है, वह यदि गम्भीर ऐतिहासिक मान लिया जायेगा तो हम उस परोडी को छोड़ बैठेंगे जो लेखक ने बनाई है। इसी तरह "कुरु कुरु स्वाहा में 'पहुचेली', 'चंडी' या तंत्र के संदर्भ यदि पोजीटिविस्ट ढंग से ले लेंगे तो परोडी की दुहरी मार को समझ भी नहीं पायेंगे।) परोडी में जिस चीज की परोडी बनती है, वह नष्ट नहीं की जाती बल्कि तोड़ी जाती है। उसमें संध लगाई जाती है, उसकी स्थिर संरचनाओं को व्यर्थ किया जाता है, क्योंकि वे संरचनायें स्वयं तानाशाही बन चुकी होती हैं। इसमें जिस चीज की परोडी की गई है वह 'नया रूप' प्राप्त कर लेती है और स्वयं अपने असह्य अन्तर्विरोध जगा लेती है। ताजमहल की नकल ताजमहल को बेदखल करती है और बेदखल करते हुए स्वयं भी समस्याग्रस्त (हास्यास्पद) होती है। लेकिन समस्याग्रस्त होकर भी वह होती है, क्योंकि उत्तर आधुनिकता ने कला (महान ताजमहल) को दैनिक बनाकर, शेष जगत में उसका सम्बन्ध स्थापित किया है, उसे सच्चा देशकाल दिया है। यह है उत्तर आधुनिक कला।

उत्तर-आधुनिकता में केन्द्रीय है वृत्तान्त की समस्यात्मकता। पश्चिम के उत्तर-आधुनिकतावादी उपन्यासकारों में गैब्रियल गार्सिया मार्खेज का 'वन हंड्रेड ईयर्स ऑफ सोलीट्यूड', गुंटरग्रास का 'टिनड्रम', डॉक्टोरोव का 'लुनलेक', रीड का 'द टेरीबल ट्रूज', किंगसटन का 'वूमन वारियर', उम्बर्टो इको का 'पेंडुलम', पिंडले का 'फेमस लास्ट वर्ड्स', रशदी का 'शेम' गिनाए जाते हैं। यहाँ भी परोडी काम करती है, पेश्टीच काम करती है। हिन्दी में मनोहरश्याम जोशी के कुरु कुरु स्वाहा, कसप, और हरियाहरकुलीज की हैरानी, सुरेन्द्र वर्मा का मुझे 'चाँद चाहिए, भगवान सिंह का 'अपने अपने राम', वीरेन्द्र जैन का 'डूब' उत्तर-आधुनिक विमर्श के

उपन्यास कहे जा सकते हैं जिनमें पेरौडी का उत्तर-आधुनिक उपयोग, 'कलात्मक प्रविधि' की तरह हुआ है। उम्बर्टो इको इसे व्यंग (विडम्बना) का खेल (गेम ऑफ आइरनी) कहते हैं जो अपने उद्देश्य में पूरी तरह 'गम्भीर' होती है और अपने विषय के प्रति जिम्मेदार भी।¹ इको के अनुसार "दरअसल व्यंग ही वह स्थिति है जिसमें आज हम थोड़े गम्भीर हो सकते हैं। हमारी दुनिया में भोलेपन की जगह नहीं है। हम उन बातों, विमर्शों की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं जो पहले हुए हैं, उन्हें सन्दर्भ बनाने की मजबूरी को व्यंग के जरिये ही कहा जा सकता है। 'पूर्व कथित' को फिर से विचारणीय बनाया जाना चाहिए। यह व्यंग्यात्मक ढंग से ही हो सकता है। यह अतीत राग नहीं है।"² 'अतीत राग' अतीत को आदर्शीकृत करता है, उसमें रहने की इच्छा पैदा करता है। उत्तर-आधुनिकता अतीत को वर्तमान से टकराती है। अतीत राग को भी पेरौडी बनाती है। सिर्फ नयेपन के पीछे न भाग कर उत्तर-आधुनिकता हमें अतीत को 'दोबारा सोचने' के लिए कहती है। अतीत और वर्तमान दोनों एक दूसरे की कसौटी से देखते जाते हैं। यही व्यंग का आलोचनात्मक इस्तेमाल है।

अनेक निन्दकों के लिए उत्तर-आधुनिकता प्रक्रियावादी है। वह पुराने कला-रूपों की ओर लौटने की कायल है। लेकिन ऐसे निन्दक अज्ञानवाशात् उस वास्तविक ऐतिहासिक रूपरचना को नहीं समझ पाते, जिन तक यह वापस जाती है। निन्दक यह भी भूल जाते हैं कि उत्तर-आधुनिक वापसी राजनीतिक है। पावलो पोर्तोनेसी ने 'पोस्टमार्डन : द आर्कीटेक्चर ऑफ द पोस्टइंडस्ट्रियल सोसायटी' (1983) में कहा है कि यह आधी सदी के स्मृतिविहीनता के बाद स्मृति की बहाली स्वयं हमारी परम्पराओं के रीतिरिवाजों में स्पष्ट है, कपड़ों में स्पष्ट है। इतिहास में बढ़ती दिलचस्पी तथा उसके वृत्तान्तों में, विमर्शों में बढ़ती दिलचस्पी से स्पष्ट है। प्रकृति से निकटता के भाव में स्पष्ट है जो मशीनी सभ्यता के विरोध में माना जाता है। (हिन्दी में जरा केदारनाथ सिंह या प्रयाग शुक्ल की कविता देखें।) यहाँ अतीत राग नहीं है जो वर्तमान से खाली होता है। यह मूलतः उत्तर-आधुनिक खोज है, अपनी भिन्नता की खोज। सब कुछ को एक जैसा बना डालने के विरुद्ध, दुहराव के विरुद्ध अपनी पहचान को खोजना। यह पुनरुत्थानवाद नहीं है, यह अतीत राग नहीं है, क्योंकि उत्तर-आधुनिक स्थितियाँ अतीत की पेरौडी बना सकती हैं उसे 'सृजित' नहीं कर सकती हैं। वृद्ध पूँजीवाद में सामन्तवाद नहीं लौट

-
1. उत्तर आधुनिक विमर्श, सुधीश पचौरी, पृ० 109
 2. उत्तर आधुनिक विमर्श, सुधीश पचौरी, पृ० 109

सकता। हाँ, उसकी पेरौडी जरूर बन सकती है।

उत्तर—आधुनिकता की भाषा इकहरी नहीं है, वह दोहरी या अनेकार्थी भी है। दलित विमर्श में यह दोहरापन है जिसमें अन्तर्विरोध कभी समाहार नहीं पा सकते। यहाँ मैलोड्रामाई बुर्जआ अन्दाज में काले गोरे, दलित ब्राह्मण 'दोगाना' गाते नहीं दिख सकते। यही स्थिति स्त्रीवादी विमर्श की है। वह 'मर्दवादी विमर्श' के केन्द्र से अलग स्थापित होता है। यही है उत्तर—आधुनिकता की बहुवाचकता, बहुवचनता। बिना उत्तर—आधुनिक जगह बने, दलित या स्त्री या प्रकृति—विमर्श सम्भव नहीं थे। दलित निन्दक या स्त्री निन्दक ही उत्तर—आधुनिकता के निन्दक सम्भव थे। यह स्वाभाविक है। जो लोग उच्च कला और निम्न कला (मास कल्चर या जन संस्कृति) में भेद स्थापित करते हैं, वे उत्तर—आधुनिकता से तकलीफ पाते हैं। (उंबर्टो इको का 'द नेम आफ द रोज' जासूसी उपन्यास की तरह चलता है। हिन्दी में मनोहरश्याम जोशी का कुरु कुरु स्वाहा भी जासूसी अन्दाज का उपन्यास है। इस तरह के उपन्यास उच्च कला और निम्न कला के भेद समाप्त करते हैं। उत्तर—आधुनिकतावाद एक ही वक्त में लोकप्रिय है और कलात्मक है। ऐसी कामना कौन नहीं करता कि वह कलात्मक भी हो, लोकप्रिय भी हो। हिन्दी में ऐसी उपलब्धियों की माँग अरसे से उठने वाली एक उत्तर—आधुनिक माँग है। अंग्रेजी की शोभा डे की कृतियाँ ऐसी ही हैं।

उत्तर—संरचनावाद के अन्तर्गत यही सत्य स्थापित होता है कि कहानी या भाषा के सत्य को हर आदमी अपने ढंग से 'पाठ' बनाकर हल करता है, किसी भी कथा का कोई सार्वभौम या सार्वकालिक या 'समग्र मूल्य' नहीं होता और जो अर्थ भी मिलता है, वह दूसरी कथा के भेद से तै होता है।

हरिया की कथा के अन्तिम क्षणों में जब मनोहरश्याम जोशी बताते हैं कि मित्रों ने उनसे कहा लिखने को हरिया की कथा और जब टीवी आ चुका था, उसने हर एक के घर में नई नई हैरानी—परेशानी भेजनी शुरू कर दी थी। उन दिनों में हरिया की इस हैरानी वाली कथा में किसी की दिलचस्पी नहीं रह गयी थी। टीवी के बाद के दिनों में कहानी बनाने वाले लोग ही नहीं बचे। तब बिरादरी के बचे खुचे लोगों को चिन्ता हुई कि क्या बिरादरी के खत्म हो जाने के बाद कहानी भी खत्म हो जायेगी हरकुलीज की ? (हरिया हरकुलिज की हैरानी का असल तोड़ यही है कि क्या इन दिनों भी हैरानी की कथा सम्भव है, जब कैमरे ने और तर्कवाद

ने लगभग हर हैरानी को 'तथ्य' और तर्क में बदल दिया है ?)

यहीं से जाति बिरादरी, हरिया की कथा हर कदम पर नई नई व्याख्या करती आयी है, कथा के एक आधार की तरह निकल आती है। उत्तर-यथार्थवादी सम्प्रदाय कोइ अमूर्त समाज नहीं। उत्तर यथार्थवादी बिरादरी यानी जाति। जाति के भीतर एक खानदान, एक कुटुम्ब के परिजन, बिरादरी।

इसलिए भूली जा चुकी बिरादरी के लिए हैरानी की कहानी निश्चित अन्त वाली और निश्चित नए तत्वों वाली सम्भव नहीं थी। जब आधुनिकता में डूबे लोगों ने चकित होना छोड़ दिया, जब रोजमर्रा का मुहावरा बाजार की सजीली वस्तुओं के रूप पा गया हो तब हैरानी की कहानी अनन्त अन्त वाली, अन्त तक आरम्भ वाली होनी निश्चित है। यही इस कथा की अन्तर्पाठीयता और खुला-खुलापन है। यहाँ बिरादरी के जितने लोग हैं, उनके लिए हरिया की हर हरकत की व्याख्या-कथा अलग-अलग है। हर पंक्ति में नया श्लेष है यहाँ। लोग दिनों तक हरिया की 'बुनावट' को खोलते फिरेगें।

प्रेमचन्द के बाद कहानी-उपन्यास सीधे शहर में आ विराजते हैं और एक बार जम जाने के बाद लौटकर जाते नहीं। वे विकसित नए यथार्थ के रिकार्डरूम बनते जाते हैं। वे यथार्थ की इस गति को कहीं 'क्वश्चन' नहीं करते कि क्या सही हो रहा है ? वे विकास के फफोलों और रोगों को दिखाते हैं ; किन्तु लौटकर गाँव नहीं जाते। वे गाँव को बचाने की सोचते तक नहीं। यह विकास का जीवन मूल्य है जो गाँव को सोचने ही नहीं देता। मध्यवर्गीय लेखक जब विकास के कुचक्र में भ्रष्टाचार, अनीति, चोरी और नृशंसता पाता है तो भी वह घबराकर पीछे नहीं देखता। पीछे कुछ बचा ही नहीं है। इसलिए नयी कहानी के बाद हमें जो कहानी और उपन्यास मिलते हैं, वे शहरी जीवन को ही सृष्टि का आदि अन्त मानते हैं। कई बार शहर-गाँव में बदलाव के एजेंट की भूमिका भी निभाते हैं। गत दशक में लिखी गयी अनेक रचनाएँ शहर से गाँव गए मजदूर या छात्रों द्वारा किए गए परिवर्तनों को आँकती हैं।

इस प्रक्रिया को और 'विकास' की इस अवधारणा को पहला झटका ' कामरेड का कोट' देती है। पहली बार एक भूमिपुत्र शहरीकरण और विकास के प्रतीक, अतिशिक्षित, अन्तर्राष्ट्रवादी मार्क्सवादी नेता के ज्ञान और निर्णयों के औचित्य को चुनौती देता है कि उन्हें हमारे समाज की स्थिति मालूम ही नहीं है ? वे शहरी लोग हैं। ज्ञानी-धनी हैं। किन्तु ग्राम्यांचल

के रहस्य वे क्या जाने ; भूमिपुत्र अपनी झोपड़ी और खेत में अब किसी को नहीं घुसने देना चाहता। 'कामरेड का कोट' ने शहरी विकास और शहरी संस्कृति पर चोट की। 'डूब' विकास की अवधारणा के औचित्य पर ही प्रश्नचिन्ह लगाता है।

यथार्थवाद की चली आती समझ में यह बात नहीं समा सकती। वह तो इतिहास की सड़क को अपनी नाक की सीध में जाते देखता था। कृषि निर्भर पुरानी ग्रामीण अर्थव्यवस्था और उससे जुड़े इन्फ्रास्ट्रक्चर की जगह नये का आना जरूरी मान लिया गया। विकास का एक मात्र अर्थ यह था की अपने बन्द और आत्मतुष्ट ग्राम समाज हरितक्रान्ति आदि के जरिये बिजली, सड़क, संचार, बाजार और पूँजी से लीप पोट दिये जाएँ और इस क्रम में उजड़ने वालों को शहर लाकर मजदूर बना दिया जाय। पूँजीपति वर्ग के पास विकास का यही विकल्प था। कम्युनिस्टों के पास भी यही था, क्योंकि शहरी मजदूर वर्ग और सर्वहारा के अधिक होने के बाद ही समाजवाद लाया जा सकता है। विकास की यह अवधारणा पिछले चालीस साल का बहुप्रचारित सत्य है। यह इतने दिनों तक एकमात्र सत्य बना रहा कि इसके मुकाबले कोई दूसरा विकास भी हो सकता है, यह सोचना लोग भूल गये। लोग भूल गये कि विकास उजड़ता भी है और वह स्थानीय स्रोतों, परम्पराओं और इतिहास से मुक्त भी करता है। यह तो महसूस ही नहीं किया गया कि इस सदी में विकास द्वारा उजाड़ने की प्रक्रिया ठीक वही नहीं है जो मार्क्स-एंगेल्स के पूँजीवाद के उन्नीसवीं सदी के विवरणों में मिलती है। सामन्तीय चंगुल से छूटने के लिए तड़फड़ाता बँधुआ भूदास, शहर में आकर मुक्ति पाता है, यह सत्य इतने इकहरे ढंग से नहीं प्रस्तुत होता है और न विकास गाँव से शहर की ओर इकतरफा चलता है। अपने यहाँ के उदाहरण बताते हैं कि विकास का अर्थ आत्मनिर्भरता, स्वायत्तता और सुख को छीनना भी है। विकास के केन्द्र में शहरी मनुष्य के होने के कारण किसान जीवन के उजाड़ और दुःख को अनुपस्थित मान लिया गया।

इधर साहित्य के हल्कों में जब उत्तर आधुनिक स्थितियों की चर्चा चली तो अनेक लोगों ने नाक-भौं सिकोड़ी। उत्तर-आधुनिक स्थितियाँ आधुनिकता के दण्ड स्वरूप ही उभरकर आई हैं, यह किसी ने नहीं समझा, क्योंकि वे सभी जो इस नई स्थिति से परेशान-हैरान हैं, वे स्वयं विकासवादी, आधुनिकतावादी हैं। वे नर्मदा बाँध, टिहरी बाँध और अब तक के विकास के कट्टर पक्षधर हैं। शहरीकरण और पूर्ण पूँजीवादी नक्शे के कायल हैं, भले ही वे पूँजीवाद के

खिलाफ लड़ते हैं।

सूचना के इस जगत में साहित्य समाज का दर्पण नहीं है, वह चिन्ह है। एजाज अहमद ने 'इनथियरी' में अपनी भूमिका ही इस शीर्षक से लिखी है — 'लिटरेचर एमंग साइन्स ऑफ आवर टाइम'। वे अपने जानी दुश्मन एडवर्ड सर्जद समेत तमाम उत्तर-संरचनावादी से बहसे हुए हैं, लेकिन वे भी मान कर चले हैं कि लिटरेचर को अपने समय का 'चिन्ह' कहा जा सकता है, दर्पण नहीं। लेकिन अपने पॉल गोमरा लोग हाई स्कूल से रटते चले आए हैं कि साहित्य समाज का दर्पण ही तो है। इसलिए जब दर्पण टूटकर सूचना की तरह और सूचना के रूप में आता है तो दर्पणवादी, ट्रेनी हम लोग सबसे पहले मार जाते हैं और उछलकर ऐसे चौकते हैं कि चौंकना भी ऐतिहासिक लगने लगता है। इस चक्कर में हम सूचना के साथ एक उच्चकेपन का सम्बन्ध बनाते हैं। उसकी डाइलैक्टिक्स नहीं देखते, उसके बहुराष्ट्रीय, भूमण्डलीय चक्र-कुचक्र को नहीं समझते, उसके तंत्र को नहीं समझते। परम आसान दो दलीय यथार्थ समझकर या तो हम उसके पक्ष में रहते हैं (जैसे कि वह कोई वैचारिक मुद्दा हो) या विरोध करते हैं। (जैसे कि हम उस सूचना से नितान्त मुक्त हों)। इस परम, परस्पर विपरीतवाद में आदमी द्विधा विभक्त हो रहता है। यहीं कहीं उच्चकापन जन्म लेता है। आदमी सूचना के जाल में रहता है और मगर से भी प्यार करने लगता है। जल के बाहर निकल कर कहता है कि वह तो मगर को मारने आया था। साला मिला नहीं। सूचना के साहित्य का जो रिश्ता हम इन दिनों बना रहे है वह उच्चकेपन और बड़बोलेपन का मिश्रण है।

जब अंग्रेज बहादुर ने अपने यहाँ प्रिंट मीडिया लाया तो अपने पुरखों ने एक बड़ी समझदारी बरती। उन्होंने बहुत जल्द समझ लिया कि हम गुफाओं में नहीं रह सकते, सूचना एक अस्त्र है और उसे अपना बनाया जाना चाहिए। इसलिए उन्होंने अपना सूचना संजाल बनाया, अखबार निकाले, किताबें छापी, माइक्रोफोन, टेलीफोन का उपयोग किया। इसी में साहित्य बना। प्राचीन साहित्य भी 'साहित्य' तभी बना जब प्रेस ने उसका जीर्णोद्धार कर दिया, वरना वरना कहीं दफन ही रहता। मीडिया और सूचना संजाल का इतिहास देखें तो पायेंगे कि मीडिया के बिना साहित्य समाज में संचरण नहीं कर सकता। हम यह भी कह सकते हैं कि कोई भी व्यक्ति-साहित्य मीडिया के बिना साहित्य नहीं बनता। नहीं बन सकता। व्यक्ति होते ही, समाजिक होते ही मीडियाकृत हो जाता है। इसे उल्टा कहें तो और अच्छा कि

मीडियाकृत या सूचनाकृत होने पर ही वह साहित्य बन पाता है। लोकसाहित्य आधुनिक युग में सूचना संजाल का हिस्सा बनकर आता है और तकनीकी दृष्टि से लोक-साहित्य का गायन-वादन अन्तर्वैयक्तिक संचार या सूचना संजाल का ही हिस्सा है। भले ही प्रिण्ट मीडिया में वह न आ सका हो। और हमें यह तो याद रखने की जरूरत ही नहीं है कि जन संचार हर तरह के समाज का सामाजिक कर्म है, प्राकृतिक कर्म है, कोई पश्चिमी विचार नहीं। जन संचार यानी सूचना संजाल हमारे 'ज्ञान की दशा' है, कोई 'अवधारणा' या विचार नहीं। अगर हम उसके होने को कोसते हैं तो हम उसके यथार्थ से बहुत-बहुत बाहर गिरते हैं, साथ में गिरता है हमारा बाल क्रोध, जैसा पॉल गोमरा का गिरा, जिसके गिरते ही स्वयं पॉल गोमरा की कहानी गिर गई।

हिन्दी में चूँकि उत्तर-आधुनिकतावाद इन दिनों क्षीण विचार का विषय बना है और बहुत सी आलोचना वामपंथी बुद्धिजीवियों से आती है, इसलिए यह देखना उपयोगी होगा कि मार्क्सवाद से उत्तर-आधुनिक दशा का क्या सम्बन्ध बनता है? 'मार्क्स एण्ड द पोस्टमॉडर्न इमेज ऑफ सोसायटी' नामक निबन्ध में जान रंडेल ने लिखा है कि उत्तर-आधुनिकता आधुनिकता का अंग भी है और विलोम भी। वह क्रमिक भी है और परिवर्तन भी। रंडेल मानते हैं कि मार्क्स के बहुत से अंश दबे हुए हैं, उन्हें जगाना होगा।

'द पोस्टमॉडर्न कंडीशन' में ल्योतार ने आखिर में एक अंश में जवाब दिया है कि पोस्टमॉडर्न मॉडर्न का ही विस्तार है। इसका मतलब यही है की ल्योतार आधुनिकता के समग्रीकरण में टूट देखते हैं। वे मानते हैं की बहुत से उपकेन्द्र उपलब्ध है जिनमें झगड़े हैं, जो सत्ता के नये रूपों को प्रकट करते हैं। आधुनिकता ल्योतार के लिए औद्योगिक पूँजीवाद का अंग है। आधुनिकता का मतलब यह नहीं है कि वह सभी क्रियाओं के नियम खोजती, स्थापित करती है, बल्कि यह है कि ऐसा वह अपने समग्रतावाद के तहत निरंकुशता लागू करके सम्भव करती है। यह एकता, एकसूत्रता और समग्रता 'झूठी' है, क्योंकि यहीं महावृत्तांत बनते हैं। लेकिन पूँजीवाद के नये विकास ने नये-नये वृत्तांत भी बनाये हैं जो इन वृत्तांतों की परिधि के बाहर पड़ते हैं और इन्हे कमजोर करते हैं। ल्योतार कहते हैं कि उत्तर-आधुनिक वह है जो अप्रतिनिधि योग्य को प्रतिनिधित्व देता है, जो सन्तोष पूर्ण रूपों में सन्तोष नहीं लेता, जो रूचियों की सर्वानुमति का आनन्द नहीं लेता, जो अप्राप्य के अतीत राग को नहीं गाता, जो नये प्रतिनिधित्व को तलाशता है, उसमें आनन्द लेने के लिए नहीं, बल्कि अप्रतिनिधि योग्य का

प्रतिनिधित्व देने के लिए ऐसा करता है, उत्तर-आधुनिक कला रूप पूर्व-स्थिर नियमों से चालित नहीं हैं और न उनसे आँके ही जा सकते हैं, वे परिचित श्रेणियों से नहीं आँके जा सकते हैं। कलाकार और लेखक बिना किसी नियम के काम करता है, क्योंकि उन्हीं में से नियम बनते हैं कि क्या होना है। इसलिए कृति और पाठ घटना होते हैं, (पूर्वनिर्धारित स्थिर रूप नहीं)।

महानता या महावृत्तांतों की 'अविश्वसनीयता' के अलावा उत्तर-आधुनिकता की विशेषता वैधता का विकेन्द्रण है, विद्रूपण है। उत्तर-आधुनिकता में सम्बन्ध 'व्यवहारिक' (पैरालाजिकल) होते हैं, 'सभंग' होते हैं, विपद्यस्त होते (कैटास्ट्रोफिक) हैं, असुधार्य होते हैं और विडम्बनात्मक होते हैं। व्यवहारिकता उत्तर-आधुनिक सम्बन्धों का सार है। आदर्शहीन, प्रतिबद्धताहीन सम्बन्ध, जो क्षण क्षण बदलते हैं, वे मूलतः सत्तात्मक सम्बन्ध होते हैं। सह अराजकता ही 'लीला' है, जिसे ल्योतार भाषा की लीला कहते हैं। व्यवहारिकतावादी सम्बन्ध, पुराने मान्य सम्बन्धों को चुनौती देते हुए भाषायी राजनीति ही एकमात्र रणनीति है।